अधिगम
अंक 19 : जून 2021

हिन्दी, मातृभाषा और केदारनाथ सिंह की कविता

डॉ० आकाश वर्मा*

केदारनाथ सिंह हिन्दी के कवि हैं। यह कहने का अर्थ इससे नहीं कि केदारनाथ सिंह हिन्दी में कविता लिखते हैं या फिर उनकी कविता का माध्यम हिन्दी है। यह कोई विचार नहीं हुआ न ही कोई तथ्य। हिन्दी का कवि कहना इस ओर संकेत करना है कि वे हिन्दी तथा अपनी मातृभाषा के प्रति अत्यधिक जागरूक कवि हैं। जैसा कि हम जानते हैं आज लोकमानस में हिन्दी भाषा के प्रति एक विचित्र और चिन्तित करने देने वाली अवधारणा व्याप्त हो चुकी है। यह केवल हिन्दी ही नहीं प्रायः भारत देश की अनेक मातृभाषाओं के प्रति भी कहा जा सकता है। लोग अपनी अगली पीढ़ी को मातृभाषा सिखाने का बहुत अधिक प्रयास नहीं कर रहे हैं। यहाँ जो सिखाने का प्रयास कहा गया है इसका संकेत अथवा अर्थ केवल भाषा को बोल लेने भर तक नहीं हैं। इसका व्यापक अर्थ है जो भाषा के संस्कार, उससे जुड़े आत्मसम्मान और अपनत्व के बोध तक जाता है। आजकल, अगली पीढ़ी तक ये सारे अवयव नहीं पहुँच रहे। यहाँ एक बात जरूर कहना ठीक रहेगा कि अपने पड़ोस अथवा देश की किसी दूसरी भाषाओं के साथ संघर्ष अथवा प्रतिरोध के साथ नहीं। सभी भाषाओं में संस्कार, आत्मसम्मान और अपनत्त्व का बोध समान होता है रूप भले ही अलग हो सकता है। प्रायः आज मातृभाषायें केवल बोल लिये जाने भर तक सीमित होने लगी हैं। निश्चित रूप से इसका कारण हम जानते हैं कि भाषाओं के सीखने और उसे पढ़ने का उद्देश्य मात्र जीविकोपार्जन के उद्देश्य तक सीमित होने लगा है। ऐसे में लोग अपनी मातृभाषाओं और उसकी सांस्कृतिक चेतना से धीरे–धीरे दूर ही हो रहे हैं।

केदारनाथ सिंह जैसा संवेदनशील कवि सारी स्थितियों और सरकारी कामकाजों के अंग्रेजी माध्यम के बीच हिन्दी तथा अपनी मातृभाषा के बारे में सोचता रहा है, यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। यही नहीं उनकी रचनाओं में इसकी चिन्ता का स्पष्ट रूप दिखायी देता है। बाजार से लौटकर– प्रकाशन वर्ष 1980 (*जमीन पक रही है*), मातृभाषा– प्रकाशन वर्ष 1988 (*अकाल में सारस*), जिल्दाना कहाँ है– प्रकाशन वर्ष 1995 (*उत्तर कबीर और अन्य कवितायें*), जेएनयू में हिन्दी– प्रकाशन वर्ष 2005 (*तालस्ताय और साइकिल*), हिन्दी– प्रकाशन वर्ष 2014 (*सृष्टि पर पहरा*), गमछा और तौलिया–

**असिस्टेंट प्रोफेसर,* हिन्दी विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम

प्रकाशन वर्ष 2014 (*सृष्टि पर पहरा*), भोजपुरी– प्रकाशन वर्ष 2014 (*सृष्टि पर पहरा*), देश और घर– प्रकाशन वर्ष 2014 (*सृष्टि पर पहरा*) जैसी कवितायें सीधे–सीधे हिन्दी तथा मातृभाषा के प्रति इनकी संवेदना को प्रस्तुत करती हैं। ये कवितायें पूरी तरह से भाषा की चिन्ता, उसकी पीड़ा या फिर उसके अपनेपन से जुड़ी हुई हैं। मातृभाषा के प्रति चिन्ता क्रमशः केदारनाथ सिंह के जीवन तथा अभिव्यक्ति में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है ।

केदारनाथ सिंह की मातृभाषा भोजपुरी है। हालांकि लोग हिन्दी को भी मातृभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं लेकिन व्यावहारिक रूप में ऐसा नहीं माना जा सकता है। हिन्दी एक व्यापक क्षेत्र के अधिकांश लोगों के सामान्य और व्यावहारिक कामकाज की भाषा है, संवाद की भाषा है तथा देश को बड़े पैमाने पर जोड़े रखने वाली भाषा है। हिन्दी का सबसे सार्थक और महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि वह देश की एकता और अखण्डता को गहराई और मजबूती प्रदान करती है। हम यहाँ गौर से विचार करें तो हिन्दी के व्यापक क्षेत्र में सभी हिन्दी बोलने वालों की अपनी–अपनी मातृभाषायें हैं– ब्रजभाषा, अवधी, मगही, मैथिली, भोजपुरी, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी आदि–आदि। इनको हम हिन्दी की बोलियाँ कहते हैं हालांकि सही अर्थों में उनकी संरचना हिन्दी के बहुत समान नहीं होती तथा उससे पर्याप्त भिन्न होती है। बहरहाल यह एक अलग बातचीत का विषय है, इस तथ्य को हमें यहाँ छोड़ देना चाहिए।

केदारनाथ सिंह ने भोजपुरी और हिन्दी, दोनों को मन से स्वीकार किया। भोजपुरी भाषा में उनका जन्म हुआ है पूरा कामकाज हिन्दी में और हिन्दी (भाषा तथा साहित्य) के लिए किया। जैसा कि हम जानते हैं जब हम उनकी कविताओं को पढ़ते हैं तो उनमें ग्राम्यबोध (लोक) और नगरबोध (आधुनिकता) की टकराहट या अन्तर्द्वन्द्व दिखायी देता है। इन कविताओं में पीड़ा, उदासी और हताशा के रूप में इसका द्वन्द्व बना रहता है जिसका हल दिखायी नहीं देता है। जब तक वे उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में रहते हैं उनके ग्राम्यबोध की पृष्ठभूमि तैयार होती रहती है और जैसे ही दिल्ली पहुँचते हैं वे एक ऐसे शहर से टकराते हैं जो आधा हिन्दी और आधा अंग्रेजी में जीता है। जहाँ मातृभाषाओं का कोई विशेष मूल्य नहीं हैं। वहाँ जाकर ही इनके चिन्तन को विकसित करने वाली पृष्ठभूमि और परिवेश (भोजपुरी) के प्रति इनका आत्मबोध जाग्रत होता है। इनकी आरम्भिक कविताओं में हिन्दी तथा मातृभाषा को लेकर कवितायें नहीं मिलती हैं क्योंकि भाषा को लेकर उनकी टकराहट अभी शुरू नहीं हुई होती। तब (सन् 1980 से पहले का) जीवन इतना जटिल भी नहीं हुआ था। ऐसा नहीं है कि हिन्दी के प्रति इनकी कोई चेतना नहीं रही होगी, किन्तु किसी भी चीज के प्रति लेखक अथवा व्यक्ति तब जागरूक होता

है, जब उसको क्षति पहुँचने लगती है अथवा ऐसा होता हुआ दिखने लगता है। हिन्दी को लेकर अथवा देश की मातृभाषाओं को लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद के दशकों में यह स्थिति नहीं आयी। राजभाषा और राष्ट्रभाषा का विवाद तो चला लेकिन उससे क्षति जैसी वाली बात नहीं दिखायी दी, सामान्य रूप से नहीं ही दिखायी दी। हम सब जानते हैं कि देश की कोई भी भाषा किसी दूसरी भाषा को नष्ट नहीं कर सकती। अगर ऐसा होना होता तो सैकड़ों हजारों बरसों पहले से ऐसा होता रहता। हाँ राजनीतिक रूप से ऐसी अवधारणा तैयार की गई जिसमें हिन्दी को खतरा साबित करने की कोशिश की गयी।

देश की भाषाओं के ऊपर खतरा तो आया, किन्तु हिन्दी की ओर से नहीं अंग्रेजी की ओर से आया, उसी अंग्रेजी को सहज ही लोगों ने स्वीकार कर लिया और आधुनिक युग का वरदान मान लिया। इसके खतरों की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। अब हम उसे ही भारत देश की सबसे बड़ी भाषा मानते हैं। ऐसा मानने के कारणों के लक्षण हमें चार दशक बाद ठीक से दिखायी देते हैं। जब संसाधनों के उपभोग, आधुनिकता जैसी अवधारणा साधारण जन में प्रवेश करती है। लोगों को जब लगने लगता है कि केवल खेती, मजदूरी और घरेलू कामकाज मात्र से जीवन के संसाधनों में बढ़ोत्तरी नहीं की जा सकती। जब विश्व बाजार भारत के लिए खुलने लगा। उदारीकरण, वैश्विक पूँजी और जीवन की सुख–सुविधाओं की लालसा ने भारतीय जनमानस को नये प्रकार निर्मित करना शुरू किया।

हिन्दी विरोध को लेकर किये गये राजनीतिक प्रपंचों से उलट अंग्रेजी ने देश की भाषाओं को जिस प्रकार से संकुचित करना और नुकसान करना आरम्भ किया, इसका अन्दाजा किसी को भी नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक के अन्तिम वर्षों तथा नवें दशक में अचानक ही भारतीय जनमानस अपनी मातृभाषाओं से हटने की कोशिश करने लगता है। शहरों से होती हुई यह कोशिश गाँवों में भी धीरे–धीरे प्रवेश कर जाती है। सिटी मान्टेसरी स्कूल, पब्लिक स्कूल और अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा ने बड़ी तेजी से आकर्षित किया। तकनीकी, प्रबंधन, मेडिकल, विदेश में जाकर अधिक धनोपार्जन की लालसा ने जनमानस को अंग्रेजी की ओर धकेला। यहाँ एक बात और जोड़ी जा सकती है कि समस्या अंग्रेजी की ओर जाना नहीं है, समस्या अपनी मातृभाषाओं से विमुख होना है। ऐसी उपजी परिस्थितियों में संवेदनशील कवि अपनी भाषा के प्रति धीरे–धीरे चिन्तित होने लगता है। चिन्तात्मक रूप में जिल्दाना कहाँ है (*उत्तर कबीर और अन्य कवितायें*–1995) में यह दिखायी देने लगता है। जहाँ इनकी चेतना भाषा को सीधे–सीधे संस्कृति और सभ्यता से जोड़कर देखने लगती है। यहीं से उनके यहाँ भाषा की चिन्ता मनुष्य के बचाये रखने की चिन्ता के रूप में दिखायी देती

है। विदेशी ताकतों तथा पूँजीवादी और औद्योगिक शक्तियों के आगे नष्ट होती जाती एक साधारण आदमी की भाषा को बचाये रखने की व्याकुलता स्पष्ट रूप से पहचानी जा सकती है। ये ताकतें जो धीरे–धीरे हर पुरानी पीढ़ी की भाषा को समाप्त करना आरम्भ कर चुकी है–

मुझे जाना ही होगा जिल्दाना
अगर जिल्दाना कहीं हो
अगर वह न हो
तो फिर अपने लिए
और अपनी समूची भाषा के लिए
मुझे पैदा ही करना होगा जिल्दाना
चाहे जैसे भी हो (*उत्तर कबीर और अन्य कवितायें,* पृष्ठ– 116)

इस पूरी कविता में चाहे जैसे भी हो, अपनी भाषा को बचाये रखने की चिन्ता को देखा जा सकता है। वह भाषा जो अब तक हर व्यक्ति की जबान पर थी। जो क्रमशः कामकाज के माध्यमों से मुक्त होती है। नयी पीढ़ी के व्यवहार से मुक्त होती जा रही है और आखिर में केवल बूढ़े दढ़ियल कवि के पास बची रहती है, जिसके बाद उस भाषा का नष्ट हो जाना तय है। भाषायी औपनिवेशिकता से संघर्ष में जिल्दाना के बूढ़े दढ़ियल कवि की चिन्ता केदारनाथ सिंह की कविता में हर उस भाषा की चिन्ता के रूप में दिखायी देती है जो क्रमशः समाप्त होती जा रही है। उस कवि की चिन्ता इस बात भर की नहीं है कि भाषा समाप्त हो रही है। इस बात की ज्यादा है कि भाषा के साथ लोग हजारों बरस की संवेदना को छोड़ते जा रहे हैं। दढ़ियल कवि (अथवा किसी बुजुर्ग की भाषा में) की कही गयी बात को समझने वाले कहाँ मिलेंगे जब यह भाषा नहीं रहेगी। ऐसे में केदारनाथ सिंह की चिन्ता और व्याकुलता इतनी तीव्र हो गयी है कि भाषा के मौखिक रूप को भी बचाये रखने के लिए एक समानान्तर शहर को बनाने की कल्पना करते हैं जो कि बहुत कठिन और असम्भव जैसा कार्य है। शहर बसाया नहीं जा सकता, भाषा फैलायी नहीं जा सकती है। यह स्वतः चलने वाली प्रक्रिया है लेकिन हम जानते हैं कि भाषायी औपनिवेशिक प्रक्रिया के प्रति जागरूक होकर इसे नियंत्रित जरूर किया जा सकता है। पुरानी पीढ़ियों द्वारा बोली गयी भाषाओं को बचाया जा सकता है।

इस कविता से पूर्व संग्रह *जमीन पक रही है* में 'बाजार से लौटकर' (1980) कविता के माध्यम से भाषा के प्रति अपने बोध को प्रस्तुत करते हैं। यह कविता विशेष रूप से लोक में नष्ट होती जा रही स्वाभाविकता और मौलिक स्वरूपों की ओर लौटने के लिए प्रेरित करती है। इस समय तक समाज में बढ़ने वाली आपाधापी की सुगबुगाहट दिखायी देने लगती है। केदारनाथ सिंह का भारतीय हृदय, लोक को जागरूक करना चाहता है कि अपने देश के देशीपन में

अब भी जिया और रहा जा सकता है। पश्चिम के खुलते दरवाजे सत्य तो हैं पर अनिवार्य नहीं। 1980 के आसपास तक हालांकि इस देश में आधुनिक तकनीकी बहुत अधिक नहीं आयी थी। विदेशी भाषा अंग्रेजी सरकारी कामकाज तथा न्यायालयी व्यवस्था तक सीमित थी। हालांकि इसका विस्तार होता जा रहा था। जिसका प्रभाव आज देखने को मिल रहा है। राम मनोहर लोहिया जैसे मातृभाषा प्रेमी द्वारा भारत की देशी भाषाओं तथा हिन्दी की स्थापना के लिए किये गये भाषाओं के सामन्जस्य के सभी प्रयास विफल रहे। इसके लिए इनकी पुस्तक *भारत माता धरती माता* को विशेष रूप से देखा जा सकता है। ऐसी अवस्था में केदारनाथ सिंह की कविता इस बात का अहसास कराना चाहती है कि अपनी भाषा (मातृभाषा) में रहकर भी जीवन को जीवित रखा जा सकता है–

तुम अपनी बात
अपनी भाषा की सारी ताकत के साथ
कह सकते हो
और कहने के बाद भी इसी शहर में
जिन्दा रह सकते हो (*जमीन पक रही है,* पृष्ठ– 37)

इसी प्रकार इनकी 'मातृभाषा' (*अकाल में सारस*) कविता मातृभाषा के छूटते जाने के अवसाद से ग्रस्त है। एक ऐसे मनुष्य की अभिव्यक्ति है जो हर जगह से लौटकर अपनी मातृभाषा तक जाना चाहता है। हम जानते हैं कि भाषा जो सदैव से अपने भीतर के परिवर्तनों से स्वाभाविक रूप से बदलती चली आती है। किसी को भी इस बात का अहसास नहीं होता। हम सब यह भी जानते हैं ऐसा इसलिए होता है कि यह स्थिति लोक के संस्कार में अपने आप बनती चलती है चाहे वह नगर सभ्यता हो चाहे ग्राम्य और इस प्रक्रिया में सैकड़ों–हजारों वर्ष का समय लग जाता है। केदारनाथ सिंह ने अचानक से एक पीढ़ी के भीतर भाषा के बदल गये संस्कार के कारण चिन्ता प्रकट की है। यह चिन्ता इस रूप में है कि एक ऐसी भाषा जिसका सम्बन्ध आत्मा से किसी भी रूप में नहीं है, वह आदमी के लिए एक बनावटी भाषा है। हालांकि वह उसे लगातार बोलता है, प्रयोग करता है। उसको इस बात का पता ही नहीं होता कि वह दो रूपों में बँट चुका है। एक मातृभाषा को बोलने वाली जबान, जब दूसरी भाषा को अपना लेती है तो उसकी अपने देश, संस्कृति और भाषा की संरचना से बनी आत्मा दोहरे रूप को ढोने लगती है। केदारनाथ सिंह ऐसे व्यक्ति को जड़ आत्मा का मानते हैं जो लोग अपनी भाषा को बरसों बरसों बोले बिना रह जाते हैं लेकिन वहीं जो लोग अपने देश, अपनी मिट्टी और अपनी भाषा तथा मातृभाषा से प्रेम करते हैं, वे अपनी भाषा को बोले बिना नहीं रह सकते हैं। उनके मन में एक पीड़ाग्रस्त कुण्ठा बन जाती है। केदारनाथ सिंह की यह कविता इसी पीड़ा से ग्रस्त व्यक्ति की भावना को प्रकट करती है। सारी

तकनीकी सुविधाओं और वैज्ञानिक लालसाओं के लिए व्यक्ति कुछ भी कर ले किन्तु अन्त में लौटता वहीं है जिन अवयवों से वह बना है। भाषा केवल बोल लेने का माध्यम भर नहीं है। वह एक समझ देती है, चरित्र देती है और अपने परिवेश, मान्यता, परम्परा तथा संस्कृति को समझने का माध्यम बनती है। जिस दिन यह (वह) भाषा लुप्त होगी, छूट जायेगी उस दिन ये सब कुछ छूट जायेगा। मनुष्य जीवित तो रहेगा लेकिन अपनी जड़ों से कटा हुआ रहेगा। वैसे भी आज के मनुष्य को इस बात की फिक्र नहीं है, लेकिन कवि को है क्योंकि कवि को लोक को बचाये रखने का भरसक प्रयास करना होता है। कवि की आत्मा जब आपनी मातृभाषा नहीं बोल पाती तो उसकी आत्मा छटपटाती रहती है–

जैसे चिटियाँ लौटती हैं
बिलों में
कठफोड़वा लौटता है
काठ के पास
वायुयान लौटते हैं एक के बाद एक
लाल आसमान में डैने पसारे हुए
हवाई अड्डे की ओर
ओ मेरी भाषा
मैं लौटता हूँ तुम में
जब चुप रहते–रहते
अकड़ जाती है मेरी जीभ
दुखने लगती है
मेरी आत्मा (*अकाल में सारस,* पृष्ठ– 11)

जेएनयू में हिन्दी केदारनाथ सिंह की मातृभाषा से छूटते जा रहे रिश्ते की ओर संकेत करती कविता है जो विशेषकर मूल मातृभाषा भोजपुरी से भी उनके गहरे लगाव को प्रकट करती है। वैसे तो यह कविता लोक के मनुष्य के भीतर गायब होते स्वरूप की चिन्ता है जिसका कारण आधुनिकता और मशीनी युग है जिसका द्वन्द्व यहाँ प्रकट हुआ है। यहाँ हिन्दी भाषा के माध्यम से इस चिन्ता को रखा गया है। जेएनयू दिल्ली ही नहीं पूरे देश में सामाजिक विज्ञान का श्रेष्ठ अकादमिक केन्द्र के रूप में स्थापित रहा है जहाँ माना जाता है कि यहाँ पूरे देश से चयनित श्रेष्ठ विद्वान आते हैं और जिस केन्द्र की प्रमुख भाषा अंग्रेजी है। केदारनाथ सिंह वहाँ एक देहात से आये साधारण आदमी के हिन्दी बोलने और उसके शब्द अंगोछा के माध्यम से हिन्दी (मातृभाषा) की पीड़ा को प्रकट करते हैं। उनकी पीड़ा घर की पहचान और भात के खुश्बू की तलाश में विद्वानों के बीच भटकती रहती है जिनके पास हिन्दी का कोई औचित्य नहीं। हिन्दी वहाँ काम की भाषा नहीं है वह मात्र आटो चालक से, सब्जी वाले से,

मजदूरी करने वालों से बात करने वाली भाषा है। अधिकारियों, सामाजिक वैज्ञानिकों, वैज्ञानिकों, बड़े–बड़े सामाजिक उत्थान करने वालों, राजनीतिक बहस करने वालों की भाषा हिन्दी नहीं है। सच कहें तो विचार और चिन्तन की भाषा नहीं है। केदारनाथ सिंह एक प्रकार से यह संकेत कर देना चाहते हैं कि ऐसे संचालन और नेतृत्त्व करने वालों द्वारा छोड़ दिये जाने वालों की भाषा है हिन्दी। अँगौछा शब्द से जुड़ी हुई पूरी भाषा व्यवस्था को लेके चलने वाला आदमी भटक जाता है। *कहाँ जाई का करी* (तुलसीदास) वाली स्थिति उनके सामने होती। केदारनाथ सिंह इस बात से अधिक चिन्तित हैं कि वह अपनी भाषा के साथ अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाता है और हताश–निराश होकर लौटना चाहता है–

वह परेशान–सा आदमी
शायद किसी घर का नम्बर खोज रहा था
और मुझे लगा– कई दरवाजों को खटखटा चुकने के बाद
अब वह हो गया था निराश
और लौट रहा था धीरे–धीरे (*तालस्ताय और साईकिल,* पृष्ठ– 55)

यह लौटना किसी भाषा का हताश हो जाना ही है। यह वैसा ही है जैसा कि उसे समझने की कोशिश नहीं किया जाना। यह कविता सब कुछ कह चुकने के बाद भाषा की पीड़ा को सामने प्रस्तुत करती है जहाँ दिखाई देता है कि कवि उस आदमी से अधिक उसकी भाषा के लिए अधिक चिन्तित है। हिन्दी भाषा जिसे सब जानते–समझते हैं फिर भी परहेज रखते हैं या यह भी हो सकता है कि लोगों को हिन्दी का स्वाभाविक रूप पता ही नहीं हो जैसे कि अंगोछा। यह विमुखता का परिचायक है। यह स्थिति प्रायः प्रत्येक मातृभाषाओं के लिए सत्य बन चुकी है। इसके चलते मातृभाषाओं के शब्द उसकी भाषिक संरचना से छूट रहे हैं। उनकी वाक्य संरचना में बदलाव होता रहा है और यह वाक्य संरचना अंग्रेजी के शब्द तथा शब्दरूपों के आधार पर निर्मित होते जा रहे हैं। भाषाविज्ञान कह सकता है कि भाषा परिवर्तनशील है इसलिए यह स्वाभाविक प्रक्रिया है किन्तु यह सत्य नहीं है। यह आरोपण की प्रक्रिया है, यह स्वतंत्रता के तुरन्त बाद बनी भाषानीति का प्रक्रिया है। केदारनाथ सिंह इसके लिए आवाज जरूर उठाना चाहते हैं लेकिन शायद बोल नहीं फूट पा रहे क्योंकि परिस्थिति का दबाव उन्हें महसूस होता है और अपने चुप रह जाने का अहसास होने लगता है। वैसे ही जैसे बाकी लोग चुप रह जाते हैं और यह भयानक घटना घट रही है–

जिस समय चिल्ला रहा था
असल में मैं चुप था
जैसे सब चुप थे
और मेरी जगह यह मेरी हिन्दी थी

जो भरे परिसर में
अकेली चिल्ला रही थी (*तालस्ताय और साईकिल,* पृष्ठ–56)

असल में आखिरी में कवि का संकेत भी देखा जा सकता है कि पूरे देश में मात्र हिन्दी ही है जो अंग्रेजी के विरूद्ध थोड़ी लड़ाई लड़ी, वरना देश की अन्य भाषाओं ने तो कभी संघर्ष ही नहीं किया और सहज ही स्वीकर कर लिया। वे सभी लोग इसको विकास और प्रगतिशीलता का द्योतक मानते हैं। वहाँ इस बात की दुहाई अधिक दी जाती है कि अगर अंग्रेजी नहीं होती तो इस देश के लोग एक दूसरे से संवाद कैसे स्थापित करते। हालांकि यह बहुत ही हास्यास्पद तर्क है। आज हर ओर यही मानसिकता व्याप्त है और इक्कीसवीं सदी में तो यह प्रत्येक परिवार, प्रत्येक मनुष्य तक पहुँच गई है। यहाँ एक बात और जोड़ना चाहूँगा कि अभी हाल ही में नई शिक्षा नीति की अवधारणा प्रस्तुत हुई है जिसमें देश की प्रमुख मातृभाषाओं में शिक्षण सम्बन्धी अनेक बातें कहीं गयी है। इससे उम्मीद है कि भारतीय मातृभाषाओं को इससे लाभ मिलेगा और उनको बढ़ावा भी मिलेगा।

केदारनाथ सिंह ऐसा नहीं है कि इस विदेशी भाषा को नहीं जानते थे लेकिन वे ये भी जानते हैं कि भाषा का सीधा सम्बन्ध लोक से होता है, जन से होता है। यह भाषा ही अपने क्षेत्र का रूपक होती है, उसका प्रतिनिधित्व करती है। उस जन की अपनी भाषा ही उसको सही अर्थों में प्रस्तुत या अभिव्यक्त कर सकती है। भाषा के संस्कार शब्दों से पोषित होते हैं। ये शब्द सांस्कृतिक संरचना और सभ्यता के वाहक होते हैं। उसके विकसित होने और निर्माण की एक व्यापक प्रक्रिया में सैकड़ों हजारों वर्ष की मानवीय सभ्यता का योगदान रहता है। ऐसे में अपनी मातृभाषा से दूर होना अपने परिवेश और लोक से दूर होना होता है। हालांकि लोगों को इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता, परन्तु कवि को पड़ता है। केदारनाथ सिंह की चेतना का सरोकार वहीं से है कि जहाँ लोक बचा रहे। लोक का प्रवाह बचा रहे। हालांकि वे जानते हैं कि इस व्यापक स्तर पर उनका प्रयास अत्यन्त छोटा या नगण्य है किन्तु अपनी भाषा से जो लगाव धीरे–धीरे समाप्त हो रहा है या हो चुका है, इनकी चिन्ता वहाँ है। मातृभाषा को छोड़ते जाने का अर्थ केवल यही नहीं है कि भाषा बदल गयी। इसके साथ ही बहुत कुछ अपने भीतर से नष्ट होना भी है। केदारनाथ सिंह की मातृभाषा से जुड़ी सभी कवितायें इसी भीतर से कुछ नष्ट होते जाने के कष्ट से दुखी हैं। उससे उपजते जा रहे भीतर के अभाव को कोई नहीं समझ रहा न ही समझना चाह रहे है। केदारनाथ सिंह उसे महसूस कर रहे हैं।

हम देख सकते हैं कि 1980 के आसपास से यह भावबिन्दु विकसित होना शुरू होता है। धीरे–धीरे ही सही इक्कीसवीं सदी में आते–आते यह

अधिक विस्तार प्राप्त करता है क्योंकि क्रमशः इसकी आवश्यकता बढ़ने लगती है। इसी के चलते उनके आखिरी संग्रह *सृष्टि पर पहरा* में पाँच कवितायें हिन्दी और मातृभाषा (भोजपुरी) पर केन्द्रित हैं। इस चेतना को जगह देना अब अति आवश्यक हो गया है। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि वे चाहते हैं कि कामकाजी भाषा या वैश्विक भाषा को न अपनाया जाय। कहने का अर्थ यह कि अभी जो स्थिति बन चुकी है उसे किसी भी अवस्था में बदला नहीं जा सकता, न ही इसकी कोई संभावना दिख रही है। लेकिन केदारनाथ सिंह की चिन्ता अपनी भाषा के छूटते जाने या छोड़े जाने भर से है। वे बाद–बाद तक इस भाषा के लिए उदास हो जाते हैं, कहीं–कहीं दुविधाग्रस्त हो जाते हैं। यह उनकी कविताओं में हताशा ही है कि लोग समझना नहीं चाहते, अपनी भाषा अथवा मातृभाषा पर सोचना नहीं चाहते। इसलिए वे कविता की जबान बोल देते हैं। 'हिन्दी' नामक कविता हमारे सामने उसको लेकर कई रूपों को रखती है– एक इच्छा जो हिन्दी को बहुत व्यापक और विस्तृत रूप में लोगों तक पहुँचने की है। एक ऐसी स्थिति जो हिन्दी के राजभाषा–राष्ट्रभाषा के पक्ष–विपक्ष (बहस) से इतर उसे भाषा बनाये रखने की अपील दिखायी देती है। वे हमेशा अपने होने के साथ हिन्दी के बचे रहने की कल्पना करते हैं। जब तक हिन्दी को उसकी आत्मा के साथ बोलने वाला व्यक्ति बचा रहेगा, हिन्दी बची रहेगी–

मेरी भाषा के लोग
मेरी सड़क के लोग हैं
सड़क के लोग सारी दुनिया के लोग
पिछली रात मैंने एक सपना देखा
कि दुनिया के सारे लोग
एक बस में बैठे हैं
और हिन्दी बोल रहे हैं
फिर वह पीली सी बस हो गई गायब
और मेरे पास रह गयी सिर्फ मेरी हिन्दी
जो हमेशा बची रहती है मेरे पास
हर मुश्किल में (*सृष्टि पर पहरा*, पृष्ठ– 17)

एक ऐसा स्वप्न जिसमें सभी हिन्दी का प्रयोग करें और एक दूसरे से जुड़े रहें। हिन्दी की बड़ी विचित्र स्थिति हो गयी है। कुछ क्षेत्र में हिन्दी इसलिए नहीं स्वीकार करते कि उनको लगता है कि हिन्दी किसी और क्षेत्र की भाषा है और उस क्षेत्र के लोग हावी हो जायेंगे– राजनीतिक वर्चस्व, इसलिए वे अंग्रेजी का समर्थन करते हैं। कुछ लोगों को लगता है कि हिन्दी क्यों मेरी मातृभाषा नहीं। इसमें पहली वाली स्थिति हास्यास्पद है कि हिन्दी का विरोध करना है तो अंग्रेजी का समर्थन कर दो। हमारे देश में आज भी

यह स्थिति पसरी हुई है कि हम अपने देश के गौरव के बजाय अपने स्वार्थ और आत्म के गौरव में उलझे रहते हैं। सभी जानते हैं अंग्रेजी किसी भी मूल भारतीय की मातृभाषा नहीं हैं और न हो सकती है और दुनिया में वे ही देश अधिक विकसित हैं जिन्होंने अपनी मातृभाषाओं में काम किया और कर रहे हैं। अंग्रेजी दुनिया के बीच की सम्पर्क भाषा के रूप में इस्तेमाल की जाती रही है लेकिन हमने अपने देश में अंग्रेजी को विकास का माध्यम बना लिया है, उसको प्रत्येक कार्य की भाषा बना लिया है। इसमें कोई बुराई नहीं है लेकिन सवाल फिर वही उठता है कि अपने देश की मातृभाषाओं के मूल्य पर यह कितना उचित है। इसके चलते लोग अपनी मातृभाषाओं से विमुख होते जा रहे हैं। हमें अपनी मातृभाषाओं को मूल्य देना होगा, चाहे जिस प्रकार भी हो। इसके लिए किसी राजनीतिक अथवा कानूनी माध्यम की कोई आवश्यकता नहीं। केदारनाथ सिंह ये सब जानते हुए हिन्दी को इस राजनीति और झूठे आत्म गौरव से दूर रखने की बात करते हैं। एक ओर वे बताना चाहते हैं कि हिन्दी किसी राजकीय कार्यालय में स्थापित करके आगे नहीं बढ़ायी जा सकती। ऐसे में वे बताना चाहते हैं कि हिन्दी की जो भी स्थिति है उस स्थिति पर वह खुश है क्योंकि वह फाइलों मे बंद विवादों की भाषा नहीं है, किसी के कागजी तनाव की भाषा नहीं है, किसी के उलझे हुए काम का भाषा नहीं है और न ही किसी के जीवन और मृत्यु के बीच फंसे कागजों की भाषा है–

एक छोटी–सी खुशी से
थरथराती रहती है वह
कि तुम झाँक आओ सारे सरकारी कार्यालय
छान डालो फाइलों के ऊँचे–ऊँचे लम्बे
मनहूस पहाड़
कहीं मिलेगा ही नहीं
उसका एक भी अक्षर
और वह नहीं जानती इसके लिए
अगर ईश्वर को नहीं
तो फिर किसे धन्यवाद दे (*सृष्टि पर पहरा*, पृष्ठ– 19)

वे किसी तरीके से हिन्दी को किसी प्रकार के विवाद और सामाजिक, क्षेत्रीय, राजनीतिक प्रपंच से मुक्त करके भाषा रहने देने की प्रार्थना करते हैं। वे चाहते हैं कि अंग्रेजी को सबकुछ सौंप दिया गया है तो हिन्दी को भाषा रहने देना चाहिए। उसे किसी विवाद का कारण न बनाया जाये। वे हिन्दी को केवल भाषा और किसी की मातृभाषा के रूप में ही बनाये रखने का प्रार्थना करते हैं

मेरा अनुरोध है
भरे चौराहे पर करबद्ध अनुरोध

कि राज नहीं– भाषा
भाषा–भाषा सिर्फ भाषा रहने दो मेरी भाषा को
इसमें भरा है पास–पड़ोस
और दूर–दराज की इतनी ध्वनियों का
बूँद–बूँद अर्क (*सृष्टि पर पहरा*, पृष्ठ– 19)

वे हिन्दी और अंग्रेजी के आपसी रंजिश (स्थापना और वर्चस्व के अदृश्य रूप) को छोड़कर दोनों के सहअस्तित्त्व की परिकल्पना भी करते हैं। यह परिकल्पना देश की किसी भी दो भाषाओं के साथ की जा सकती है। जहाँ दोनों बिना किसी ऊँच–नीच के भेद के रह सकती हैं। 'गमछा और तौलिया' कविता में केदारनाथ सिंह इसी भावना को प्रकट किये हैं क्योंकि सही अर्थों में भाषाओं के बीच विवाद कभी नहीं रहा है। यह अवस्था मनुष्य की भेदवादी मानसिकता के चलते सामने आती है। जिस भी स्थान से जब दो भाषायें अपना रूप बदलती हैं उनके बीच में एक सामन्जस्य वाली स्थिति होती है। भाषा क्षेत्रों को देखते हुए यह स्थिति समझी जा सकती है जैसे– मराठी और कन्नड़ भाषा को देखें तो दोनों भाषाक्षेत्र के बीच एक ऐसा क्षेत्र मिलेगा जो दोनों भाषाओं को जानता है। वह उन दोनों भाषाओं का सामन्जस्य है। यह सामन्जस्य वाली स्थिति बनायी जा सकती है। केदारनाथ सिंह की 'गमछा और तौलिया' इसी प्रकार की कविता है। प्राचीन सभ्यताओं के बीच भी भाषाओं के भेद का मूल्य नहीं रहा है। दक्षिण की भाषाओं का पूरब की भाषाओं से या फिर पूरब की भाषाओं का उत्तर की भाषाओं से भेद और विवाद कब आरम्भ हुआ इन सबका अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकती है। केदारनाथ सिंह 'गमछा और तौलिया' कविता में भाषाओं को उनके रूप साथ में बने रहने और आपसी सहयोग के साथ उनके आगे बढ़ते रहने का चित्र प्रस्तुत (कल्पना) करते हैं–

गमछा और तौलिया
दोनों एक ही तार पर टँगे
सूख रहे थे साथ–साथ
वे टँगे थे
जैसे दो संस्कृतियाँ
जैसे दो हाथ– बाँया और दायाँ
झूलते हुए अगल बगल
तेज धूप में थोड़ी सी गरमा–गरमी के बाद
मैंने सुना–
तौलिया गमछे से कह रहा था
तू हिन्दी में सूख रहा है
सूख,
मैं अंग्रेजी में कुछ देर

झपकी लेता हूँ (*सृष्टि पर पहरा*, पृष्ठ– 60)

इस कविता के सहारे हम एक विचार और करें कि हम जानते हैं प्रायः पूरे भारतीय भाषा क्षेत्र में अंग्रेजी रच बस गयी है। इसके साथ लोक में भी आपसी भेद भाव विकसित हुआ है। केदारनाथ सिंह उसकी ओर भी संकेत करते हैं। अनुमान कर सकते हैं कि एक अंग्रेजी जानने वाला व्यक्ति उसी की मातृभाषाभाषी को किसी दूसरे नजरिये (पिछड़ेपन) से देखने लगता है। केदारनाथ सिंह इस भेदभाव से भी मुक्ति की कामना करते हुए दोनों से सामन्जस्य बना लेने की अपील जैसा करते हैं जैसा कि ये कविता चित्र प्रस्तुत करती है। भाषा भेद ने जनमानस का बहुत अहित किया है और जनमानस से अधिक भाषाओं का अहित किया है। भाषाओं के बीच के महीन भेद को समाप्त कर उनके बीच समरसता का भाव जगाना ही केदारनाथ सिंह की भाषा सम्बन्धी चेतना का कार्य है। उनके लिए कोई भी भाषा प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

केदारनाथ सिंह की मातृभाषा भोजपुरी है। उनके भीतर भोजपुरी का संस्कार अपने व्यग्र रूप में दिखायी देता है क्योंकि निश्चित रूप से भोजपुरी बोलने वाले पूरे देश में हर कहीं नहीं मिलेंगे। और हम यह भी जानते हैं हिन्दी और भोजपुरी में भी बहुत भेद है। सभी भोजपुरी बोलने वाले हिन्दी बोल सकते हैं किन्तु सभी हिन्दी बोलने वाले भोजपुरी नहीं बोल सकते। ऐसी अवस्था में अपनी मातृभाषा भोजपुरी को जीने के लिए लेखक अपने गाँव की ओर लौटता है या फिर ऐसे व्यक्ति की तलाश करता है जिसके पास भोजपुरी के संस्कार हों। अब अगर विचार करें तो भोजपुरी उनका लोक प्रदेश है और हिन्दी उनके लिए थोड़ी आधुनिकता (और अंग्रेजी अतिआधुनिकता) की भाषा है। ऐसे में केदारनाथ सिंह लोक की स्मृति में कई बोर भोजपुरी की ओर चले जाते हैं और कई बार अपने गाँव की ओर। यह इसलिए है कि उनका आत्मसत्य गँवई पृष्ठभूमि से बना है। गाँव का जीवन, उसका संसार, खेत–खलिहानों की खूबसूरती, मनोहारी शान्ति से भरे बाग–बगीचे उनकी अनेक कविताओं में प्रकट हुए हैं। मातृभाषा भोजपुरी के लिए, उसके असीमित प्रेम और अपनेपन के लिए वे 'भोजपुरी' कविता के सहारे गाँव की ओर लौटते हैं। इसकी जीवन्तता और लोक से गहरे जुड़े होने का सबूत देते हैं–

इसकी क्रियायें
खेतों से आई थीं
संज्ञाएँ पगडंडियों से
बिजली की कौंध और महुए की टपक ने
इसे दी थी अपनी ध्वनियाँ
शब्द मिल गये थे दानों की तरह
जड़ों में पड़े हुए
खुरपी कुदाल के युगल–संगीत से

इसे मिले थे छन्द
मेरी माँ का खयाल था
चिरई–चुरुंग इसी में सुनाते हैं
अपने बच्चों को लोरियाँ (*सृष्टि पर पहरा,* पृष्ठ– 90)

भोजपुरी भाषा को केदार जी सीधे–सीधे लोक की जमीन से जोड़ कर देखते हैं। भोजपुरी ही नहीं केदारनाथ सिंह की यह भावना भारत की प्रत्येक मातृभाषा के लिए अपनायी जा सकती है जो अपने लोक में अभी भी रची बसी है। ये मातृभाषाएँ मौखिक रूप में ही सदियों से अपने लोक को कथाओं और गीतों या किसी अन्य रूप में बताती आयी हैं। उनका गँवईपन से भरा हुआ तथा अपने आसपास की ध्वनियों से एक छोर से दूसरे तक बँधा और फैला हुआ रूप अत्यन्त सहज और कोमल होता है। इस रूप में मातृभाषाओं का सत्य भले ही बिखरा हुआ प्रतीत होता है किन्तु वह स्थायी होता है। केदारनाथ सिंह को इस स्थायी रूप पर इतना विश्वास है कि भोजपुरी को अपने नष्ट होने और बिखरने का खतरा भी नहीं हैं (हालांकि वैश्विक भाषा अंग्रेजी का असर उन पर भी पड़ता है) वे भोजपुरी के बहाने कहते हैं–

किताबें
जरा देर से आईं
इसलिए खो भी जाएँ
तो इसे डर नहीं
क्योंकि जबान–
इसकी सबसे बड़ी लाइब्रेरी है आज भी (*सृष्टि पर पहरा,* पृष्ठ– 91)

इसलिए इनकी चिन्ता इसको बोलते रहने की हैं और मूल रूप में बोलते रहने की है। जब तक आने वाली पीढ़ियों की जबान पर यह भाषा रहेगी तब तक वह भाषा बची रहेगी। उनको मातृभाषाओं के लिए यह उम्मीद है। हम जानते हैं कि केदारनाथ सिंह नगरबोध और ग्राम्यबोध के द्वन्द्व के कवि हैं। इनकी कवितायें गाँव की पृष्ठभूमि पर विकसित इन्सान के ऊपर हावी होते गये नगरीय सभ्यता के अन्तर्द्वन्द्व की प्रस्तुति की तरह हैं। *देश और घर* नामक कविता भी इस बोध के अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करती हैं लेकिन यह भाषा की कविता है। भाषा और मातृभाषा की कविता है जिसके भीतर एक प्रकार का द्वन्द्व दिखायी देता है। एक ऐसे व्यक्ति की कथा कह सकते हैं जो मातृभाषा में बनता है, रहता है और दूसरी भाषा में पूरे देश में विचरण करता है। यह कविता भोजपुरी और हिन्दी, दोनों के प्रति गहरे प्रेम, अपनत्व और लगाव की कविता है–

हिन्दी मेरा देश है
भोजपुरी मेर घर (*सृष्टि पर पहरा,* पृष्ठ– 94)

घर और देश की परिभाषा में स्पष्टतः केदारनाथ सिंह की भोजपुरी उनकी जन्मभूमि है और हिन्दी मातृभूमि। इस अवधारणा में दोनों के बीच में कहीं कोई अलगाव नहीं हैं। दोनों भाषायें भिन्न हैं पूरी तरह से एक नहीं हैं किन्तु इनका आपसी सम्बन्ध इतना गहरा बन चुका है कि एक दूसरे के पूरक की तरह प्रतीत होती हैं और एक दूसरे से अत्यन्त प्रभावकारी रूप से जुड़ी रहती हैं–

घर से निकलता हूँ
तो चला जाता हूँ देश में
देश से छुट्टी मिलती है
तो लौट आता हूँ घर
इस आवाजाही में
कई बार घर में चला आता है देश
देश में कई बार
छूट जाता है घर (*सृष्टि पर पहरा*, पृष्ठ– 94)

निश्चित रूप से केदारनाथ सिंह का यह भाषा प्रेम ही है जो एक ओर उनको भोजपुरी से जोड़े रखता है तो दूसरी ओर हिन्दी से। इस कविता में भोजपुरी और हिन्दी एक प्रकार से लोक और आधुनिक जनमानस की भाषा के बीच गहरे सम्बन्ध को प्रकट कर रहे हैं। हालांकि आधुनिक जनमानस की भाषा अंग्रेजी बनती जा रही है अथवा बन चुकी है लेकिन यह दूसरी स्थिति है। ग्रामीण जन अथवा लोक के लिए फिलहाल हिन्दी ही आधुनिकता की भाषा है। वे लोग जो घरों से मातृभाषा में निकलते हैं और बड़े–बड़े शहरों में हिन्दी भाषा के सहारे कामकाज और जीवन यापन करते हैं। आज एक और स्थिति बन चुकी है कि लोग अपनी मातृभाषाओं से निकलकर सीधे अंग्रेजी में प्रवेश कर रहे हैं। ये दोनों दो स्थितियाँ हैं– मातृभाषा से निकलकर हिन्दी में प्रवेश करना और मातृभाषा से निकलकर अंग्रेजी में प्रवेश करना। यह कविता यह भी कहना चाहती है कि अंग्रेजी देश नहीं हैं। शायद इसे दूसरे रूप में कहें तो ऐसे भी कह सकते हैं कि देश की सभी मातृभाषायें घर हैं और हिन्दी देश। सभी अपने–अपने घरों में रहते तो हैं जिनके घर इसी देश की मिट्टी पर हैं। इसीलिए केदारनाथ सिंह भोजपुरी और हिन्दी के लिए यह कहने पर विवश हो जाते हैं–

मैं दोनों को प्यार करता हूँ
और देखिए न मेरी मुश्किल
पिछले साठ बरसों से
दोनों में दोनों को
खोज रहा हूँ (*सृष्टि पर पहरा*, पृष्ठ– 94)

समग्र रूप में विचार करें तो केदारनाथ सिंह हिन्दी के हिमायती से अधिक हिन्दीजीवी रचनाकार हैं। हिन्दीजीवी होने का एक अर्थ उनके मातृभाषा जीवी होने से भी है। भोजपुरी और हिन्दी, आत्मा से जुड़ी भाषायें

हैं और इनसे जुड़ी कविताओं के माध्यम से वे प्रत्येक मातृभाषा को जीवन्त बनाये रखने की चिन्ता भी करते हैं। आधुनिकता और लोक की भाषा के द्वन्द्व के बीच में मातृभाषायें प्रथमतः तो आने वाली पीढ़ियों को खोती जा रही हैं दूसरे उन भाषाओं का लोक सौन्दर्य नष्ट होता जा रहा है । यह सत्य भले है कि भाषा स्थिर नहीं होती और सतत परिवर्तनशील होती है किन्तु यह परिवर्तन नहीं है, इसे आरोपण कहते हैं। विज्ञापन, बाजार और तकनीकी के सहारे भाषाओं (मातृभाषाओं) का लुप्त होते जाना, विश्व के अनेक देशों में हो रहा है। किसी भी भाषा के औपनिवेशिक रूप धारण करने से ऐसा होता रहेगा। इन भाषाओं का बचे रहना आवश्यक है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जैसे–जैसे संसार आधुनिकता का आवरण ओढ़े जा रहा है, वैसे वैसे भाषायें मरती जा रही हैं। आरम्भ में ही हमने कहा कि प्रत्येक भाषा और उसके निर्माण के पीछे एक सभ्यता और उसकी संस्कृति का हाथ होता है। परम्पराओं, वैचारिक संरचना तथा संवेदना का हाथ होता है, जिनके बोलने–समझने वाले लोग उसको जीवन्त करते हैं। कोई भी व्यक्ति दूसरी भाषा बोलना और समझना सीख तो सकता है किन्तु उसके निर्माण और उस भाषा व्यवस्था के पीछे की प्रक्रियाओं और संवेदना को नहीं समझ सकता जैसा कि अपनी भाषा के साथ उसके जुड़ाव होता है, जिसे वह किसी और भाषा के उपयोगी होने के चलते छोड़ता जाता है। अमेरिकी महाद्वीप से लेकर अफ्रीका और आस्ट्रेलिया महाद्वीप तक की सैकड़ों मातृभाषायें इसी प्रक्रिया तथा वैचारिक अवस्थाओं के चलते लुप्त हो चुकी हैं। पूर्वी तथा मध्य एशिया में मातृभाषाओं को बचाये रखने का भरपूर प्रयास किया गया है और वे सफल भी रहे हैं। अपने देश में ज्ञान और शिक्षण पद्धति को क्रमशः अंग्रेजी को सौंप दिया गया है। इस दृष्टि से हमारा देश भाषिक औपनिवेशिकता की स्थिति की ओर बढ़ रहा है। हम अपनी मातृभाषाओं से विमुख होने का प्रयास करते जा रहे हैं। इसकी गति और अवस्था कैसी है इस पर तो भाषाविज्ञान विचार करेगा। अपनी मातृभाषाओं के लिए चिन्तित प्रत्येक मनुष्य को, अपनी अगली पीढ़ी को उसकी मातृभाषा में पढ़ना और लिखना जरूर हस्तानान्तरित करना चाहिए। बोलना तो वे सीख लेते हैं। इसलिए केदारनाथ सिंह आरम्भ में *जिल्दाना कहाँ है* कविता में उस भाषा को बचाने के लिए शहर के बसा लेने जैसी परिकल्पना करते हैं। उनकी कविता में बार–बार हिन्दी का आना और उसके बीच में भोजपुरी का प्रवेश करना देश की भाषाओं तथा मातृभाषाओं के प्रति जागरूक होना और करना है जिनका क्षरण हम अनायास करते जा रहे हैं। कारण जो भी गिनायें जायें। अपनी भाषाओं से अपने क्षेत्र के प्रति, अपने समाज के प्रति, अपनी सभ्यता के प्रति अपने देश के प्रति अनुराग

और प्रेम का सम्बन्ध होता है, लगाव बढ़ता है। केदारनाथ सिंह इस लगाव के कवि हैं जो इनकी कविताओं में मातृभाषा और देश भाषा हिन्दी के प्रति दिखाई देता है।

सन्दर्भ

1. *अभी बिल्कुल अभी*, संस्करण– 2016 (प्रथम प्रकाशन–1960), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
2. *जमीन पक रही है,* पंचम् संस्करण– 2012 (प्रथम– 1980), प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली
3. *यहाँ से देखो,* पहला संस्करण– 1983, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
4. *प्रतिनिधि कवितायें,* पहला संस्करण– 1985, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
5. *अकाल में सारस,* पहला संस्करण– 1988, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
6. *उत्तर कबीर और अन्य कवितायें,* पहला संस्करण– 1995, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
7. *तालस्ताय और साईकिल,* पहला संस्करण– 2005, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
8. *सृष्टि पर पहरा,* पहला संस्करण– 2014, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली